ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 497-502

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

नाट्य–रूप : परम्परा एवं प्रयोग

आयुष बघेल

शोध अध्येता– यू0जी0सी0 नेट, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ0प्र0), भारत

Received- 11.07.2020, Revised- 16.07.2020, Accepted - 21.07.2020 E-mail: kaushlendrmpi@gmail.com

सारांश : साहित्य एवं नाट्य–रूप– जहाँ साहित्य की सभी विधाएँ मानव–मन को तरंगायित करती हुई उसके रंजन एवं उत्कर्ष में समान रूप से उपादेय हैं, वहाँ प्रत्येक विधा का अपना वैशष्ट्य भी है। नाटक को अन्य–साहित्य–रूपों से विभिक्त करने वाला मूल–तत्व उसका दृश्यत्व है। श्रव्यत्व के साथ दृश्यत्व की इसी योजना ने नाटक को रंगमंचीय सार्वजनीनता एवं सुलभ साधारणीकरण द्वारा रसास्वादन का प्रबल माध्यम बनाया है। नाटक की दूसरी मौलिक विशेषता द्वन्द्वया संघर्ष की अनिवार्यता है। विश्व का कोई नाटक ऐसा न होगा जिसमें अन्तर्द्वन्द्वअथवा बाह्य–द्वन्द्वकी अवस्थिति न हो। जैसे एक हाथ से ताली नहीं बजती, वैसे ही पक्ष–प्रतिपक्ष के अभाव में नाटकीयता की संरचना असम्भव है। देशकाल एवं मानव–रुचि की विभिन्नता के परिणामस्वरूप संघर्ष उग्र या मृदुल, बाह्य या आन्तरिक, सुखान्त या दुःखान्त हो सकता है, किन्तु न्यूनाधिक मात्रा में संघर्ष की स्थिति सभी नाट्य–कृतियों में होती है।

कुंजीभूत शब्द– मानव–मन, तरंगायित, उत्कर्ष, उपादेय, वैशष्ट्य, श्रव्यत्व, रंगमंचीय, सार्वजनीनता ।

नाट्यरूप एवं रूप– नाटक के इन मौलिक गुणों के अतिरिक्त वस्तु, पात्र रसादि के भेद से नाट्य–रूपों का विभाजन किया गया है। वैसे 'रूप' शब्द प्रायः सीमित एवं व्यापक दोनों ही अर्थो में प्रयुक्त होता है। सीमित अर्थो में वह ढाँचा या बाह्य–आकृतिमात्र का और व्यापक अर्थो में वह काव्य या साहित्य के अभिव्यक्ति पक्षमात्र का (जिसमें ढाँचा–आकार और भाशा, छंद, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, सब कुछ समाविश्ट) द्योतक है। वस्तुतः प्रस्तुत संदर्भ में रूप बाहरी–रेखाओं को ही कहना उचित है। फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि वस्तु के आन्तरिक गुणों के अनुरूप ही रूप निर्माण होता है। प्रतिभाशाली दृश्टा कवि को वस्तु अपना वास्तविक रूप स्वयं अपने भीतर से ही सुझाती है। अतः नाट्य–रचना–प्रक्रिया में वस्तु आदि तत्वों के समान ही रूप–विधान का अपना महत्व है।

प्रसाद एवं रूप–विधान– यद्यपि प्रसाद जी ने साहित्यि में अनुभूति की प्राथमिकता को आग्रह–पूर्वक अंगीकार किया है, तो भी यह कहना युक्ति–संगत न होगा कि उन्होंने रूप–सौश्ठव की ओर ध्यान नहीं दिया। एक सच्चे कलाकार के सदृश वे वस्तु के अनुरूप रूपतामक–सौश्ठव के चरम आदर्श की प्राप्ति के लिए युग–रुचि की पहचान, सतत प्रयोग, समन्वय–दृष्टि, काट–छाँट की कलाकारोचित पोषण–संबर्द्धन की भावना के साथ प्रयत्नशील रहे हैं। प्रसाद जी ने अपनी नाट्य–रचना के प्रस्थान–विन्दु से लेकर विकास की चरम–परिणति तक जो नाट्य–रूप के निर्माण–कौशल का परिचय दिया है, वह परम्परा एवं प्रयोग की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'सज्जन' से 'ध्रुवस्वामिनी' के नाट्य–तंत्र का विशद अन्तर इसका पुष्टि–प्रमाण है। उन्हें इस लम्बी यात्रा में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यरूपों के संविधान का अध्ययन –मनन एवं अभ्यास प्रायः करना पड़ा था। वे अपनी गरिमामयी वस्तु, गहन भावनाओं एवं दार्शनिक–विचारों को प्रभावी–रूप में प्रस्तुत करने के सबल माध्यम का अनुसन्धान अन्त तक करते रहे। अतः प्रसाद के नाट्य–साहित्य में नाट्य–रूपों का विश्लेशण करने की भूमिका यही हो सकती है कि नाट्य–रूप के सम्बन्ध में पूर्व–प्रसादीय धारणाओं का आंकलन किया जाये।

नाट्यशास्त्र एवं नाट्य–रूप– भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रूपकों की संख्या दस मानी है–

1–	नाटक	2–	प्रकरण
3–	अंक	4–	व्यायोग
5–	भाण	6–	समवकार
7–	वीथी	8–	प्रहसन
9–	डिम	10–	ईहामृग ।

परन्तु इनके अतिरिक्त नाटिका–नामक संकीर्ण नाट्य–रूप का विवेचन भी किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दश–रूपकों की परम्परा तो स्थिर हो चुकी थी, परन्तु 'नाटिका' अभी प्रयोग दशा में थी। इनके अतिरिक्त भी कुछ नाट्य–प्रयोग लोक–परम्परा में विकसित हो रहे होंगे, जिनमें से नाटिका को शास्त्रीय–मान्यता मिलने लगी थी। नाटिका में नाटक और प्रकरण का संकर होता है। उपर्युक्त नाटकादि दशरूपकों में भी सबके उदाहरण उपलब्ध नहीं है। केवल नाटक प्रकरण, प्रहसन और भाण की ही समृद्ध परम्परा मिलती है। समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, अंक और वीथी नाट्यरूपों के केवल एक–दो उदाहरण मिलते है उनमें भी कुछ के तो आज नाम–मात्र शेश हैं। डा0 मनमोहन घोश का मत है कि इनमें कुछ नाट्यरूप केवल दृश्य ही रहे होंगे, उनका श्रव्य भाग

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

नटों को कण्ठ रहा होगा। अतः उनका कोई लिखित साहित्यिक–रूप न रहा होगा। यह भी सम्भव है कि कुछ उदाहरण–ग्रन्थ काल के ग्रास हो गए हों। अग्नि पुराण के अज्ञात लेखक ने काव्यशास्त्रीय भाग में नाट्य–रूपों की संख्या 26 परिगणित की है, जिनमें दस प्रसिद्ध नाट्य–रूपों के अतिरिक्त नाटिका, त्रोटक, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, श्रीगदित, नाट्य–रासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेङ्खण सम्मिलित है। त्रोटक से लेकर प्रेङ्खण तक उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में नहीं है।

दशरूपकार ने नाट्य–शास्त्र में वर्णित दशरूपकों को ही मान्यता दी है। इसी भाव की पुष्टि के लिए लेखक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रखा हो, तो आश्चर्य नहीं। आचार्य धनंजय ने नाटिका का भी विवेचन किया है। परन्तु उसे एक संकर–रूप ही माना है। इसके अतिरिक्त प्रकरणिका आदि की कल्पना का खण्डन किया है। त्रोटक आदि को भावाश्रय मानते हुए नृत्य–भेद सिद्ध किया है। रसाश्रय–पाट्य–रूपों की संख्याा दस ही मानी है। उन्होंने पात्र–संख्या या अंक–संख्या के आधार पर कपात्री, द्विपात्री अथवा एकांकी, द्वयांकी आदि नाट्य–भेदों को मान्यता नहीं दी, क्योंकि इस प्रकार भेदों की अगणित संख्या बढ़ जाने का भय था। दशरूपककार का यह मत परम्परानुमोदित है परन्तु उनके परवर्ती–आचार्य शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' में दशरूपक तथा 18 उपरूपकों का विवेचन किया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने उपरूपक–परम्परा का सम्बन्ध भरतमुनि से भिन्न कोहलाचार्य से माना है तथा उपरूपकों में आंगिक अभिनय का प्राधान्य माना है, रसाश्रय–वाक्यार्थाभिनय का नहीं। इससे यह स्पश्ट हो जाता है कि भरत–मुनि और कोहल दोनों की परम्पराओं के संयोग से अट्ठाइस रूपक एवं उपरूपकों को नाट्य–रूप मानने की परम्परा चली। परवर्ती आचार्यो में भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज ने भी उपरूपकों को नाट्य–रूप माना है। पं0 विश्वनाथ द्वारा परिगणित 18 उपरूपकों के नाम हैं।

1–	नाटिका	2–	त्रोटक
3–	गोश्ठ	4–	सट्टक
5–	नाट्य–रासक	6–	प्रस्थान
7–	उल्लाप्य	8–	काव्य
9–	प्रेङ्खण	10–	रासक
11–	संलापिक	12–	श्रीगदित
13–	शिल्पक	14–	विलासिका
15–	दुर्मल्लिका	16–	प्रकरणी
17–	हल्लीश	18–	भाणिका

भोजराज ने 14 उपरूपकों का ही उल्लेख किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बहुत से नाट्य–रूपों के उदाहरण उपलब्ध न होते हुए भी आचार्यो ने मर्यादा–पालन के लिये नाट्य–रूपों का निर्देश किया है। इसके विपरीत ग्रीक–नाट्य–शास्त्र में केवल दो नाटय–रूप त्रासदी (ट्रेजेडी) वं कामदी (कामेडी) ही उपलब्ध होते हैं।

आधुनिक हिन्दी–नाट्य–साहित्य में रूप–विधान की समस्या : यद्यपि नाट्य–रूपों का यह विशद–विवेचन वं वर्गीकरण भारतवर्श के प्राचीनतम नाट्य–ग्रन्थों से आरम्भ होता है तथा दशरूपकों एवं श्रश्टादश उपरूपकों के स्पश्ट लक्षण एवं यथासंभव उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं, तथापि वर्गीकरण की यह जटिलता स्वतः संस्कृत–साहित्य में एक समस्या रही है क्योंकि दशरूपकों में ये केवल नाटक, प्रकरण, प्रहसन एवं भाशा की परम्परा ही पुष्ट दृष्टिगोचर होती है। शेष के नाम–मात्र ही अवशिश्ट है।

श्रष्टादश–उपरूपकों में से केवल नाटिका को छोड़कर अन्यों को कुछ आचार्यो ने नाट्य–रचना तक नहीं माना है। श्री ब्रजरत्नदास तो यहाँ तक कहते हैं कि "रूपकों के प्राचीन भेद, उनकी रूपरेखा, परिमाण आदि पर विशेषतः अवलम्बित है, पर वर्तमानकाल में उन भेदोंपभेदों पर विशेष आस्था नहीं रह गई है। पूर्वकाल में उन पर या उनमें–से अनेक भेदों पर वैसी आस्था नहीं पाई जाती, क्योंकि उनके नियमों के अनुसार लिखी रचनाएँ उदाहरण रूप में भी नहीं मिलती।"

आधुनिक हिन्दी–नाटक के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सम्मुख भी यह जटिल समस्या विद्यमान थी, जिसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है, "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म–ग्रहण करें और देशीय रीति–नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे, उस समय में उक्त–सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति–पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन–समालोचना करके नाट्यकार को दृष्यकाव्य–प्रणयन करना योग्य है" आगे उन्होंने स्पष्ट कहा है– "वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रूचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है। इससे संप्रति प्राचीन–मत–अवलम्बन करके नाटकीय–दृष्य लिखना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।"

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे प्राचीन संस्कृत–नाट्य–परम्परा के सर्वथा विरोधी थे या उससे पूर्ण सम्बन्ध–विच्छेद करना चाहते थे। उसी नाटक–शीर्षक–निबन्ध में एक स्थल पर उन्होंने स्पष्ट कहा है– नाटकादि दृष्य–काव्य–प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त–रीति ही परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं है क्योंकि जो प्राचीन–रीति व पद्धति आधुनिक–सामाजिक लोगों की मतपोशिका होगी, वह सब अवश्य ग्रहण होगी।" उन्होंने स्वयं नाटक, सट्टक, नाटिका, व्यायोग, प्रहसन आदि के अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

किये। बंगला के 'विद्या–सुन्दर' का हिन्दी–रूपान्तर किया तथा शैक्सपिनयर के 'मर्चेन्ट आव् वेनिस' का 'दुर्लभ–बन्धु' नाम से अनुवाद किया। उनकी मौलिक रचनाओं में भी प्राचीन और नवीन का सुन्दर–सामंजस्य है। उन्होंने यदि 'चन्द्रावली' में संस्कृत–नाटिका की पद्धति का आदान किया है तो 'भारत–दुर्दशा' में पाश्चात्य दुःखान्त–नाटक की छाया–ग्रहण की है। इस प्रकार अनेक प्रकार के प्रभाव–ग्रहण कर हिन्दी–नाट्य–रूपों के प्रयोग भारतेन्दु जी ने प्रस्तुत किए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन का पोशण करते हुए भी दुखान्तादि नवीन–पाट्य–रूपों के ग्रहण की पुष्टि की।

अतः इस संक्रमण काल में न तो हिन्दी–नाट्य–रूपों का विभाजन संस्कृत–नाट्य–रूपों के सदृश बन सका और न पाश्चात्य कामदी वं त्रासदी के नाट्य–रूपों का पूर्णतया अनुवर्ती ही हो सका। संस्कृत–नाट्य–रूपों का पूर्णतया अनुवर्ती ही हो सका। संस्कृत–नाट्य–रूपों के प्रहसन, भाण आदि एकांकी रूप भी प्रचलित रहे तथा नाटक, प्रकरण आदि के समान ऐसे नाटकों की सृष्टि भी होती रही, जिनकी अंकादि–संस्था संस्कृत–नाटकों के समान निश्चित नहीं थी। स्मरण रहे, कि इस अव्यवस्थित दशा में भारतेन्दु–युग एवं द्विवेदी–युग में पाश्चात्य शैली का प्रभाव बंगला के माध्यम से एवं साक्षात्–रूप से भी हिन्दी–नाट्य–रूपों पर पड़ता रहा। भारतीय सुखान्त–नाट्य–रूपों के साथ ही दुःखान्त–रूप भी लिखे जाने लगे। श्रीनिवासदास का 'रणधीर–प्रेममोहिनी' नाटक दुःखान्त का प्रथम प्रयोग था। तत्पश्चात् दुःखान्त नाटकों की सुदीर्घ–परम्परा विकसित हो चुकी थी।

इस प्रकार शनैःशनैः संक्रमण की स्थिति से निकलकर आधुनिक हिन्दी–नाटक प्रगति के पथ पर बढ़ तो रहा था, परन्तु हिन्दी के अपने नाट्य–शास्त्र के अभाव में नाट्य–रूपों की मर्यादाएँ स्पश्ट एवं निश्चित न हो सकीं। इस प्रकार की अव्यवस्था ही युग व्यवस्था बनी रही। इस प्रकार की विशम–स्थिति नाट्य–रचना एवं आलोचना दोनों के मार्ग में पर्याप्त अवरोध उत्पन्न कर रही थी। फिर भी विविध नाट्य–रूपों की सतत–रचना हो रही थी एवं शास्त्रीय विवेचन की प्रक्रिया अपेक्षित थी।

जब हम आधुनिक हिन्दी के नाट्य–रूपों का वर्गीकरण करते हैं, तो सर्वप्रथम भ्रांति स्वयं 'नाटक' शब्द के कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि हिन्दी में नाटक एक नाट्य–रूप नहीं है, अपितु रूपक का पर्याय बन गया है। अतः संस्कृत नाट्यशास्त्र के सदृश किसी नाट्य–भेद को नाटक कहने के भ्रम होना स्वाभाविक है। अतः हम रूपक या नाटक के भेद करते हुए आकार एवं शिल्प की दृश्टि से हिन्दी के आधुनिक नाटक–साहित्य को दो वर्गो में विभक्त करते हैं।

(1) एकांकी नाटक (2) अनेकांकी नाटक

यहाँ यह स्मरणीय है कि एकांकी अपने आप में एक पूर्ण रचना है, जिसका अपना नाट्य–शिल्प है। अतः एकांकी अनेकांकी के एक अंक के समान होता है, यह धारण सर्वथा भ्रामक है।

आधुनिक नाटकों का दूसरा स्वरूप हमें अनेकांकी नाटकों में मिलता है। प्रचलित रीति के अनुसार नाटक का अर्थ यही अनेकांकी नाटक है जिसमें एकाधिक अंक हों। इन दोनों रूपों का अन्तर केवल बाह्य न होकर आभ्यन्तर भी है।

विवेचन– भारतवर्श में प्राचीन काल से ही रूपक या नाटक के एकांकी तथा अनेकांकी दो प्रधान वर्ग विद्यमान थे। प्रसिद्ध दशरूपकों में से भाण, प्रहसन, व्यायोग, बीवी और अंक, पाँच नाट्य–रचनायें एकांकी थी। शेश नाटक, प्रकरण, डिम, समवकार तथा ईहामृग पाँच, एकांकी रचनायें थीं जिनके वैभिन्य का मूलाधार वस्तु आदि की विभिन्नता थी। आधुनिक युग के एकांकी नाटकों में दृश्य–विभक्ति भी होने लगी है। कुछ एकांकी अनेक दृश्यों के होते हैं तथा कुछ में एक दृष्य ही एक अंक होता है: जेसे–प्रसाद जी के 'सज्जन', 'प्रायश्चित' आदि एकांकियों में दृश्य–विभाजन है। परन्तु 'एक घूँट' में एक ही दृश्य है। इस प्रकार एकांकी के दो भेद हुए :

1– एक–दृश्य 2– अनेक दृश्यीय

अनेकांकियों की अंक–संख्या भी संस्कृत–नाटकों की तुलना में कम होती जा रही है। प्रायः तीन अंक के नाटकों का प्रचलन बढ़ रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि पारसी थियेटर के रंगमंचीय नाटकों में दो मध्यावकाश होने थे। स्वभावतः उनके नाटक प्राय तीन अंकों में ही विभक्त होते थे। उन्हीं के अनुशरण पर साहित्यिक नाटकों की अंक–संख्या भी तीन ही निर्धारित होती जा रही थी। पाश्चात्य नाटकों में भी पाँच के स्थान पर तीन अंकों की प्रवृत्ति बढ़ रही थी एवं पाँच अंकों की कैद टूट चुकी थी। यद्यपि अंकों के विषय में भारतीय अनेकांकियों में कोई कठोर नियम नहीं था और न प्रसाद जी के नाटकों में ही है। किन्तु एक तथ्य स्पष्ट है कि अब संस्कृत–नाटकों की तुलना में अंक–संख्या की न्यूनता हो गई है, जिसका प्रमुख कारण प्रत्येक अंक में अनेक दृश्यों की योजना को भी माना जा सकता है, क्योंकि दृश्य–विभाजन ने एक अंक में अनेक दृश्यों की योजना का अवसर प्रदान कर दिया है। साथ ही आधुनिक युग के व्यस्त जीवन ने भी अपेक्षाकृत लघु–रूपकों के प्रचलन पर बल दिया है। दृश्य–विभाजन की प्रचलित प्रणाली पाश्चात्य नाटकों की देन है, जिसे पहले गर्भा के नाम से 'रणधीर प्रेम मोहनी' (श्रीनिवासदास) एवं 'प्रतापसिंह' (राधा कृष्ण दास) आदि अनेकांकियों में अपनाया गया था। परन्तु आधुनिक नाटकों में प्रयुक्त दृश्य–योजना का गर्भांक से शास्त्रीय भेद है' क्योंकि किसी संस्कृत–नाटककार ने एक अंक के अनतर्गत अनेक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

गर्भांकों का ऐसा प्रयोग नहीं किया।

आधुनिक हिन्दी–एकांकी एवं अनेकांकी नाटकों को फल या परिणाम की दृश्टि से दो उपभेदों में बाँट सकते हैं:

1– सुखान्त 2– दुःखान्त

सुखान्त परम्परा भारत की प्राचीन नाट्य–परम्परा है, जिसका पालन आधुनिक युग में भी हो रहा है। प्रसाद जी का 'चन्द्रगुप्त' व प्रेमी जी की 'शिवा–साधना' सुखान्त रचनायें हैं। प्रसाद जी ने भारतीय सुखान्त के मनोविज्ञान की व्याख्या इन शब्दों में की की है: ''भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृश्टि मुख्य है'' सर्वगुणसम्पन्न एवं धर्म के प्रतीक नायक को फलागम–प्राप्त न कराना, भारतीय मनीशी को अर्ध का पोषण लगा। अतः उसने काव्य–न्याय की आधार–शिला 'सत्यमेव जयते नानृतम्' को माना। साथ ही हम इस लोक में असत्य एवं अन्याय को भी विजयी हाते देखते हैं तथा इसी यर्थावादी आधार पर बल देकर पाश्चात्यों ने दुःखान्त का प्रवर्तन किया। आधुनिक हिन्दी–नाटक में दुःखान्त प्रकार की रचनाएँ भी बहुत लिखी जा रही हैं। उदाहरण के लिए उदयशंकर भट्ट का 'दाहर अथवा सिंघपतन' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र का सिंदूर की होली' दुखान्त नाटक हैं। इन भेदोपभेदों के अतिरिक्त आधुनिक नाटकों में शैली–भेद भी विद्यमान हैं।

आधुनिक हिन्दी–नाटकों में शैली–भेद– कलाकार स्वभाव से ही त्रिकालदर्शी होता है। वर्तमान में सीमित न रहकर उसकी दृश्टि अतीत एवं भविश्य पर भी पड़ती रहती है। कुछ कलाकार अतीत पर अधिक ध्यान देने के कारण परम्परावादी हो जाते हैं तथा जिनकी दृश्टि भविष्य की ओर रहती है वे सर्वथा नूतन–प्रयोग की प्रवृत्ति से अधिक परिचालित होते हैं। परन्तु यह सूक्ष्म–दृश्टि–भेद विशय एवं शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में महदन्तर उपस्थित कर देता है। हमारे आधुनिक नाट्य–साहित्य में परम्परानुगत एवं प्रयोग–प्रवण दोनों शैलियाँ ही न्यूनाधिक मात्रा में प्रचलित हैं। इसका कारण यही है कि कुछ कलाकारों ने अभी तक संस्कृत नाट्य–शिल्प को ही अधिक मात्रा में ग्रहण किया तथा कुछ नाटककार पाश्चात्य नाट्यधारा से अनुप्रणित हो तथा अपनी मेघा का विज्ञान–संगत–प्रयोग कर नवीन आयामों का सूजन कर रहे हैं। इस विषय में डा0 भोलानाथ का मत ध्यान देने योग्य है ''इस प्रकार आधुनिक हिन्दी नाट्य–साहित्य में हमें (ये) दो प्रकार के नाटक दिखलाई पड़ते हैं। इनमें कुछ प्राचीन शैल पर लिखे गये तथा दूसरे नवीन–शैली पर। इन दोनों की अपनी–अपनी विशिष्टताएँ इतनी स्पश्ट है कि वे इन्हें दो विभिन्न वर्गो में बाँट सकती है। हाँ, यह वर्गीकरण गणित के ढंग का न होकर साहित्य के ढंग का होगा। तात्पर्य यह है कि यदि इस वर्गीकरण से यह सोचा जाये कि प्राचीन–शैली के नाटकों की कोई भी बात नवीन शैली के नाटकों में न मिलेगी, तो यह असंभव है। प्रत्येक आधुनिक लेखक चाहे वह कितना ही प्रयोगशील हो अथवा परम्परावादी, रहता इसी युग में है। प्रभावों या परिवर्तनों को प्रकाश–रूप में, उसकी चेतना के कण–कण में रम गये हैं, उनसे अपने को किसी प्रकार भी नहीं बचा सकता। इसीलिए कभी–कभी नवीन में प्राचीन और प्राचीन में नवीन भी दिखलाई पड़ जाता है। वर्गीकरण विशिष्टताओं की अधिकता और प्रभाव की दृश्टि से होता है। इसी दृश्टि से परम्परानुगत तथा प्रयोगशील नाटकों का अन्तर विवेच्य है। इस मनोभूमिका के साथ ही हम परम्परानुगत–अनेकांकी तथा प्रयोगशील अनेकांकी के मौलिक विभेदों का स्पष्टीकरण कर देना उचित समझते हैं इस प्रसंग में डा0 रामकुमार वर्मा का निम्नलिखित तुलनात्मक विवेचन लाभप्रद हो सकता है –

	परम्परानुगत अनेकांकी		प्रयोग–प्रवण अनेकांकी
1–	नायक विशेष गुणों से संपन्न हो।	1–	नायक में किन्हीं विशेष गुणों की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी परिस्थिति का मनुष्य मात्र हो
2–	रस की प्रधानता होनी चाहिये।	2–	रस की अपेक्षा मनोविज्ञान की प्रधानता आवश्यक है।
3–	कथा में संघर्ष केवल मध्य तक ही हो, उसके बाद नायक की विजय स्पष्ट दीखनी चाहिए (क्लाइमैक्स के लिए स्थान नहीं है)	3–	कथा में संघर्ष अन्त तक होना चाहिये। अन्त में चरम सीमा व्यवस्थित रूप से रहे।
4–	चरित्र की अपेक्षा सत्य और न्याय सिद्धान्त की प्रधानता अपेक्षित है।	4–	चरित्र का विश्लेषण ही प्रमुख है।
5–	आदर्शवादी अन्त या निष्कर्ष हो	5–	यथार्थवादी अंत या निष्कर्ष हो।
6–	नाटक में मृत्यु आदि दुखद घटनाएँ वर्जित हैं।	6–	इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।
7–	नाटक केवल सुखान्त होना चाहिए।	7–	नाटक जीवन की परिस्थितियों के अनुसार सुखान्त या दुःखान्त दोनों ही हो सकते हैं।
8–	रंगबंध की व्यवस्था संकेतात्मक है।	8–	रंगबंध की व्यवस्था वैज्ञानिक और कलात्मक है।

उपर्युक्त विश्लेषण परम्परानुगत एवं प्रयोगशील नाटकों के शैली–भेद पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। दोनों के वस्तु–विन्यास का रेखा–चित्रण भी इस अन्तर को स्पष्ट करने में विशेष उपादेय हो सकता है। प्रथम परम्परानुगत एवं प्राचीन संस्कृत नाट्यशैली के नाटक का रेखाचित्र प्रस्तुत है :

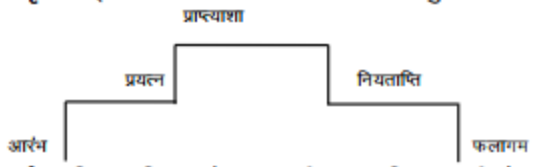

उपर्यक्त शिल्प–विधान में चरम–सीमा का विधान नहीं है।

साथ ही पाश्चात्यानुप्राणित प्रयोगशील नाटकों के वस्तु–विन्यास का रेखाचित्र भी द्रष्टव्य है :

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

उपर्युक्त आरोह–अवरोह क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार पहले वातावरण उपस्थित कर स्थान, समय और समस्या का परिचय दे दिया जाता है, इसके उपरान्त कथावस्तु इस प्रकार आगे बढ़ती है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। यहाँ आकस्मिकता का नाटकीय–गुण कार्य करता है तथा कौतूहल जागृत होता है। इधर संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता जाता है और उधर हमारी जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती है। इस प्रकार चरम–सीमा का स्पर्ष कर वस्तु में अवरोह होने लगता है, गुत्थियाँ सुलझने लगती है और नाटक का सुखमय या दुःखमय अन्त हो जाता है।

परम्परानुगत एवं प्रयोग–प्रवण एकांकी– अनेकांकी नाटकों के समान एकांकी नाटक की परम्परानुगत एवं प्रयोगशील शैलियों में भी पर्याप्त वैभिन्य है। आधुनिक नाटक–साहित्य में कुछ आलोचकों का मत तो यह है कि एकांकी पूर्ण–रूप से पश्चिम की देन है। परन्तु कतिपय विचारकों के मतानुसार भारतीय नाट्य–परम्परा में दो दर्जन से अधिक एकांकियों का विधान होते हुये एकांकी को पूर्ण–रूप से पश्चिम की देन नहीं माना जा सकता। डा0 गोपीनाथ तिवारी ने पश्चिमी–एकांकी के जन्म से पूर्व ही हिन्दी–एकांकी के अस्तित्व को सिद्ध किया है। अतः इस विवाद में अधिक न उलझते हुए यही प्राकरणिक है कि परम्परावादी एवं प्रयोगवादी दोनों प्रकार के एकांकियों के शिल्प का दिग्दर्शन कर लिया जाये।

आंग्ल एकांकियों के जन्म (1903 ई0) से पूर्व काशीनाथ खत्री के दो एकांकियों 'सिन्धु देश की राजकुमारियों' तथा 'गुन्नौर की रानी' को हिन्दी के प्रथम एकांकी सिद्ध करते हुए डा0 गोपी नाथ तिवारी ने निम्नलिखित कसौटियों पर एकांकियों को कसा है।

प्रसाद ने अनेकांकी नाटकों का रूप–विधान–

प्रसाद जी के अनेकांकी नाटकों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:

1– तीन अंक वाले नाटक

2– तीन से अधिक अंक वाले नाटक

उनके तीन अंकों वाले नाटकों का आकार–प्रकार सामान्य है, तथा भारतेन्दु–युग एवं द्विवेदी–युग में प्रचलित वस्तु–दृश्य–विभाजन के सदृश हैं। अतः उसे केवल नाटक की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु प्रसाद जी के दो नाटक–'स्कंदगुप्त' एवं 'चन्द्रगुप्त' वस्तुविस्तार वं दृश्य–संस्था में भी पर्याप्त बड़े हैं। वस्तु की गरिमा, पात्रों की संख्या, भावव्यंजना एवं शैली आदि की दृश्टि से भी ये दोनों रचनाएं महत् एवं उदात्त हैं। अतः इन नाटकों के महाकाव्योचित–रूप– विस्तार, भाव–गम्भीर्य एवं उदात्त शैली को दृश्टिपथ में रखते हुए महानाटक कहना उपर्युक्त होगा। यह नामकरण नूतन प्रतीत होते हुए भी भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। 'स्कंदगुप्त' में पाँच अंक हैं तथा तैतीस दृश्य हैं। 'चन्द्रगुप्त' में अंकों की संख्या चार ही है, किन्तु दृश्यों की संख्या चवालीस है। यद्यपि 'राज्यश्री' के संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण में एक अंक की वृद्धि कर दी गई है, इस प्रकार अंक–संख्या तीन से चार हो जाती है, तो भी 'राज्यश्री' को सामान्य नाटक ही मानना उचित है, क्योंकि उसमें 'स्कंदगुप्त' एवं 'चन्द्रगुप्त' के सदृश महद्वस्तु, अर्थगांभीर्य एवं शैली आदि की वह उदात्तता उपलब्ध नहीं होती, जो प्रसाद जी के महानाटकों में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने तीन अंक वाली उस परम्परा का भी अनुकरण किया है, जो भारतेन्दु तथा द्विवेदी–युग में पारसी थियेटर के अनुकरण पर बन गई थी। क्योंकि पारसी थियेटरों में दो अन्तर्वेलायें होती थी। इतने कम अंकों की रचना को न तो प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ही नाटक कहा जा सकता है और न पाश्चात्य परम्परा के अनुसार ही। भारतीय परम्परा में नाटक में अंकों की संख्या पाँच से दस तक मानी गई है। पाश्चात्य परम्पराप्रेमी आचार्य पाँच अंकों की अनिवार्यता घोशित करते रहे हैं। इस दृश्टि से देखे तो प्रसाद जी के नाटक केवल लघु नाटक कहला सकते हैं, नाटक या महानाटक नहीं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि संस्कृत–नाटक–परम्परा में प्रायः नाटक में पाँच से दस अंक होते थे, किन्तु संस्कृत–नाटक–शैली में गर्भांक की व्यवस्था होते हुए भी अनेक दृश्यों की परम्परा नहीं थी। दृश्य–विधान की पाश्चात्य परम्परा का आदान कर लेने पर कम अंक के नाटक में भी वस्तु का पूर्ण विस्तार एवं रस–परिपाक की सभी सम्भावनाएँ फलित हो गई हैं। प्रसाद जी ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को छोड़कर सभी अनेकांकी नाटकों में अनेक दृश्यों की योजना की है, जैसे–'राज्यश्री' में तेईस, 'विशाख' में सोलह, 'अज्ञातशत्रु' में अट्ठाईस, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में तेईस, 'कामना' में बाईस, 'स्कंदगुप्त' में तैंतीस तथा 'चन्द्रगुप्त' में चवालीस दृश्य हैं। केवल 'ध्रुवस्वामिनी' में तीन अंक और तीन दृश्यों की योजना की गई है। इस प्रकार आकार की दृश्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' लघु–नाटक या नाटिका की संज्ञा के योग्य है। आकार के अतिरिक्त 'ध्रुवस्वामिनी' में नारी–समस्या एवं नारी पात्रों का प्राधान्य एवं कैशिका वृत्ति भी 'ध्रुवस्वामिनी' को नाटिका के अधिक समीप ले जाती है। 'ध्रुवस्वामिनी' का रामगुप्त क्लीव है और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सदृश्य–वीर भी नारी वेश में ही अपने पौरुश का चमत्कार प्रदर्शित करता है। इस रचना में बौने, कुबड़े एवं हिजड़े आदि भी नाटिका की नर्म–प्रकृति के भी अनुकूल हैं। प्रसाद जी ने नाटिका के शिल्प में एक विशेश प्रयोग यह किया है कि एक नायक के स्थान पर एक नायिका है तथा दो नायिकाओं के स्थान पर दो पुरुश पात्र हैं जिनमें नायिका एक को चाहती है और अन्त में उसी का वरण करती है। कामना' में भी इसी प्रकार नायिका विलास और संतोश दो पुरुष पात्रों से सम्बन्धित है, जिनमें से अन्त में एक का वरण करती है। रस की दृश्टि से भी 'कामना' में सुरा और सुन्दरी का आकर्षण तीव्र से

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-I, Issues-16, YEAR- June -2020

तीव्रतर होता हुआ श्रृंगार रस की सृष्टि करता है। अतः तीन होते हुए भी 'कामना' नाटक की तुलना में नाटिका के ही अधिक समीप है। प्रश्न यह हो सकता है कि 'राज्यश्री' में तो नायिका प्रख्यात नारी है। अंक–संख्या भी चार है। उसे नाटिका क्यों न कहा जाये ? इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है कि 'राज्यश्री' का वैधव्य इतिहास–प्रसिद्ध है। इस नाटक में नाटिका की मूल प्रकृति श्रृंगार–रस का धाराविरोह प्रवाह सम्भव ही नहीं है। राजनीतिक महत्वाकांक्षा, शड़यन्त, हिंसा एवं प्रवंचना का विराल रूप नाटक के समस्त वातावरण को घेरे हुए हैं जिससे मुक्ति के हेतु करुण, क्षमा आदि की योजना की गई है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. धनंजय–दसरूपक–'वस्तु नेता रसः तेषा मेदक' कारिका।
2. डा0 रामेश्वर लाल खण्डेलवाल– जयशंकर प्रसाद वस्तु और कला।
3. भरतमुनि– नाट्यशास्त्र दसरूप विधान।
4. अग्निपुराण– काव्यशास्त्री भाग।
5. डा0 एस0के0 दे– संस्कृत पायटिक्स।
6. अभिनव भारती– अभिनव गुप्त।
7. विश्वनाथ– साहित्य दर्पण।
8. श्यामसुन्दर दास– भारतेन्दु नाटकावली।
9. ब्रजरत्न दास– हिन्दी नाटक साहित्य, एवं विश्वनाथ कविराज–साहित्य दर्पण।
10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र– नाटक शीर्षक निबन्ध।
11. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी– नाट्य शास्त्र।
12. डा0 रामचरण महेन्द्र– आधुनिक एकांकी और अनेकांकी का अन्तर।
13. डा0 भोलानाथ– हिन्दी साहित्य।
14. डा0 रामकुमार वर्मा– शिवाजी।
15. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा– प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन।

*****